जैव विकास - पानी से ज़मीन पर आया जीवन

माधव गाडगिल

1. मछलियां: पानी का शक्तिशाली राजघराना

चालीस करोड़ वर्ष पहले मत्स्यावतार में से प्रकट हुए बलशाली कशेरुकी (रीढ़धारी) जंतु क्रमशः पानी में से धरती पर फैले और फिर हवा में उड़ते हुए जीवजगत के अधिपति बन गए हैं।

मराठी के मशहूर कवि कुसुमाग्रज की एक बहुत सुंदर कविता है - उनके एक विद्यार्थी के विषय में। उस विद्यार्थी का सब-कुछ बाढ़ में बह गया। उसकी कहानी सुनकर शिक्षक ने पूछा कि क्या तुम्हें कुछ मदद चाहिए? इस पर विद्यार्थी ने कहा, "मेरा संसार ज़रूर नष्ट हो गया है, किंतु मेरी रीढ़ नहीं टूटी है। आप तो बस मेरी पीठ पर हाथ रखिए और कहिए कि संघर्ष करते रहो।" शक्तिशाली कशेरुकी प्राणी जीवजगत के अधिपति यूं ही नहीं बने हुए हैं।

सायनोबैक्टीरिया और शैवाल अरबों वर्ष से प्रकाश की ऊर्जा का उपयोग कर रहे हैं। इसके फलस्वरूप पानी का विघटन होकर ऑक्सीजन बनती रही और वातावरण में, पानी में इस गैस की मात्रा लगातार बढ़ती रही। पचास करोड़ वर्ष पहले ऑक्सीजन की यह मात्रा उस स्तर पर पहुंची जहां वह आज है।

जीवधारियों ने ऑक्सीजन की इस बढ़ती मात्रा का भरपूर फायदा उठाने वाली मशीनरी का विकास कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैव विकास की गाड़ी तेज़ गति से चल पड़ी। तेज़ रफ्तार से गति कर सकने वाले नए-नए जंतु विकसित हुए और एक-दूसरे से बचाव के लिए वे ज़िरहबख्तर पहनने लगे। फुर्तीली गति के लिए ज़रूरी होता है कि शरीर सुदृढ़ हो और साथ ही लचीला भी। ये दोनों गुण रीढ़ की बदौलत संभव हो सके।

जीवजगत की शुरुआत पानी में हुई थी और पहले-पहले रीढ़धारियों का प्रादुर्भाव भी समुद्र की तलहटी में हुआ था। इसके बाद नए-नए संसाधनों का उपयोग सीखते हुए, नए-नए प्राकृतिक आवासों में घुसपैठ करते हुए वे चारों ओर फैल गए - मछलियों, कछुओं और व्हेल्स के रूप में पानी में, मेंढक के रूप में पानी के किनारे पर, सांप, छिपकलियों, और हमारे जैसे स्तनधारियों के रूप में धरती पर, और पक्षियों और चमगादड़ों के रूप में हवा में। यह सब संभव हुआ रीढ़ के अतिरिक्त चार अन्य विशिष्ट शारीरिक लक्षणों के कारण। ये चार लक्षण हैं - शरीर को निश्चित आकार देने वाले शल्क और इनसे विकसित हुए पिच्छ और बाल, प्रभावी ढंग से पानी से ऑक्सीजन ले सकने वाले गलफड़े और इनके बाद विकसित हुए फेफड़े, गलफड़ों की हड्डियों से विकसित हुए मज़बूत जबड़े और गति करने के लिए पतवारों के समान पंख और उनसे विकसित हुई टांगों या पंखों की जोड़ियां। जैसे-जैसे ये लक्षण क्रमशः विकसित होते गए, जीवजगत की विस्तारवादी प्रवृत्ति के अनुरूप रीढ़धारी जंतु जीवन के ताने-बाने में नई-नई भूमिकाएं निभाने लगे।

कशेरुकी जंतुओं के पूर्वजों का विकास लगभग पचास करोड़ वर्ष पहले हुआ था। इनमें वैसी रीढ़ की हड्डी नहीं थी जैसी आधुनिक कशेरुकी जंतुओं में पाई जाती है। इनके पीठ वाले भाग में एक लचीली डंडी या रॉड के समान रचना थी जिसे रज्जुकी या नोटोकॉर्ड कहते हैं। आज की मछलियों के सगे-सम्बंधी चालीस करोड़ वर्ष पहले अवतरित हुए थे। ये आदि-मत्स्य गोल मुंहों वाले थे और इनके शरीर पर मज़बूत जबड़े और पतवारनुमा पंख नहीं थे। समुद्र के पेंदे पर धीरे-धीरे रेंगते, तैरते हुए वे कृमियों, घोंघों और केकड़ों को खाते थे। पीठ में रीढ़ थी और शरीर की बाहरी सतह पर शल्कों का मज़बूत कवच था। इसके अतिरिक्त उपास्थियों (कार्टिलेज) या अस्थियों (हड्डी) से बना कंकाल भी था।

इस कंकाल से मांसपेशियों को सहारा मिलने के कारण तेज़ी से गति करना संभव हो पाता था। मुंह से पानी लेकर उसे वे पेशियों की शक्ति से गलफड़ों के छिद्रों से बाहर निकालते थे। इन गलफड़ों के द्वारा पानी से ऑक्सीजन लेकर उसे प्रभावी ढंग से रक्त में पहुंचाया जाता था। मुंह से अच्छी तरह काटने और तेज़ गति करने की क्षमता काफी फायदेमंद थी। इसके लिए जैव विकास के दौरान गलफड़ों को सहारा देने वाले कंकाल का रूपांतरण होकर आधुनिक कशेरुकी जंतुओं के जबड़े बन गए और कंकाल की अन्य उपास्थियों, अस्थियों का रूपांतरण कंधों और कूल्हों के कंकाल में हुआ और चलने के लिए दो जोड़ी अंग बने। मछलियां अपने इन दो जोड़ी प्रचलन अंगों यानी पंखों का उपयोग पतवारों के रूप में करती हैं।

ऐसे आधुनिक रूप वाली, किंतु आदिम मछलियों से काफी समानता रखने वाली मछलियां हैं शार्क की सहोदर रे मछलियां। तश्तरी जैसे चपटे और 25 सेंटीमीटर से लेकर सात मीटर तक के आकार की इन रे मछलियों की 560 प्रजातियां हैं। इनमें से अधिकांश प्रजातियां समुद्र के पेंदे पर घोंघे और केंकड़े खाती हैं, किंतु सभी सफल जीव-समूहों के समान रे मछलियां भी नए-नए आविष्कारों की सहायता से परिस्थितियों से तालमेल बनाते हुए फैल गई हैं।

इनमें विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है समुद्र के पेंदे के बजाय ऊपरी सतहों पर तैरने वाली, पांच मीटर आकार की दैत्याकार मेन्टा रे। इसके डील-डौल के हिसाब से इसके शिकार बहुत छोटे-छोटे होते हैं - पानी पर तैरने वाले छोटे-छोटे झींगे और केंकड़े। इस प्रकार से, विविध प्राकृतवासों में फैलते हुए, विभिन्न प्रकार के भोजन को आहार बनाते हुए, नए-नए आविष्कारों की सहायता से आज समुद्री और मीठे पानी की 27 हज़ार मछली प्रजातियों का विकास हुआ है। किंतु इनमें से छह से आठ हज़ार प्रजातियां समुद्र के केवल एक प्रतिशत क्षेत्रफल में स्थित मूंगों (कोरल्स) के आसपास पाई जाती हैं। जलसृष्टि के अन्य भागों में कोई खास विविधता नहीं होती, किंतु मूंगों के पर्यावरण में वैसी ही विविधता पाई जाती है जैसी जंगलों में होती है। मूंगों की इस विविधता पर पनपी है मछली जगत की विविधता।

ज़्यादातर विविधता कैसे फैलती है इसका एक उदाहरण वे मछलियां हैं जो अन्य मछलियों के शरीरों पर चिपके हुए जूं जैसे जंतुओं का सफाया करती हैं। मूंगा पर्यावरण में इन सेवाभावी मछलियों का व्यवहार आश्चर्यजनक होता है। ये बहुत छोटी-छोटी हैं और इनके शिकारी इन्हें एक निवाले में खा सकते हैं, किंतु दोनों पक्षों के बीच एक अनकहा समझौता होता है कि कोई किसी को दगा नहीं देगा। सफाई करवाने के लिए वहां आने वाली मछलियां विशेष हलचल करके यह दिखा देती हैं कि सफाई करने वालों को उनसे कोई खतरा नहीं है। इससे आश्वस्त हो कर सफाई करने वाले केवल शरीर के ऊपर-ऊपर ही नहीं, बल्कि मुंह में घुसकर तालू और गलफड़ों पर चिपके हुए जंतुओं तक को खा जाते हैं। सफाई हो जाने के बाद ग्राहक इस लालच में नहीं पड़ते कि एकाध सफाई करने वाले को चुपचाप निवाला बना लें। किंतु यदि सभी ईमानदार हों तो फिर वह दुनिया कैसी?

जलसृष्टि में भी दगाबाज़ होते ही हैं। ब्लेनी परिवार की एक मछली प्रजाति असली सेवकों की नकल करते हुए वैसा ही रंग-रूप और लटके-झटके अपनाती है। जब कोई बेखबर मछली सफाई करवाने के लिए इनके सामने आकर रुकती है तो ये चालाक मछलियां जल्दी-जल्दी उसके शरीर से मांस के टुकड़े नोच कर दफा हो जाती हैं। गनीमत है कि प्रकृति में इनकी संख्या सीमित रखने का भी तरीका है। जब इन चालाक मछलियों की संख्या बढ़ जाती है तब इनके शिकार सावधान हो जाते हैं और झांसे में नहीं आते; इनकी संख्या अपने आप कम हो जाती है। इस प्रकार, ठगों को काबू में रखते हुए जीवजगत का कारोबार चलता रहता है।

सारा जीवजगत विस्तारवादी नीति अपनाता है। इसी प्रकार मछलियों ने भी अपने आप को पानी तक सीमित नहीं रखा है। अनेक प्रजातियां ज़मीन पर पहुंच गई हैं। जहां नदियां समुद्र से मिलती हैं वहां बहुत अधिक कीचड़ इकट्ठा हो जाता है। इस ज्वार-भाटे के क्षेत्र में मैन्ग्रोव के जंगल पनपते हैं। इस कीचड़ पर मडस्किपर नामक मछलियां फुदकती रहती हैं। पांच-दस सेंटीमीटर लम्बी ये मछलियां छोटे केंकड़ों और कीटों का शिकार करती हैं। मडस्किपर गलफड़ों से भी सांस लेती हैं और अपनी गीली त्वचा से भी।

किंतु मछलियों का एक समूह तो इससे भी एक कदम आगे बढ़ गया है। यह समूह है फेफड़ा मछलियों का। मीठे पानी में रहने वाली ये मछलियां दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया में पाई जाती हैं। इनके अगले और पिछले पंख टांगों में परिवर्तित हो गए हैं। ये मछलियां फेफड़ों की सहायता से ऑक्सीजन ले सकती हैं। जब इनके निवास का पानी सूख जाता है तब ये स्वयं को कीचड़ में धंसा लेती हैं और कई महीनों तक आराम से रह लेती हैं। ऐसे ही किसी मत्स्यावतारी पूर्वज की करामात से ही हम सभी कशेरुकी जंतु आज ज़मीन पर रह रहे हैं। ***(स्रोत फीचर्स)***

2. भगवान, मुझे छुटपन दे

गहरे समुद्र में जन्मा जीवजगत पहले समुद्र में, फिर मीठे पानी में, वहां से ज़मीन पर और अंत में आकाश में फैल गया। इस सफर में वह लगातार प्रजातियों, कुलों (फैमिली), संघों (ऑर्डर्स) और इनके साथ ही जीवनशैलियों की विविधता से सज्जित होता रहा। वर्तमान में संघों की अनुमानित संख्या चालीस है, तो प्रजातियों की संख्या एक करोड़ चालीस लाख। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यह विविधता कहां फैली है, किस प्रकार विभाजित हुई है? समुद्र में और ज़मीन पर इसका अनुपात क्या है? इनमें से कितने संघ, कितनी प्रजातियां हरे प्राथमिक उत्पादक पौधों की हैं, कितनी जंतुओं के समान केवल भक्षक हैं, कितनी केंचुओं, फफूंदों जैसे सड़ाने का काम करने वाली विघटक प्रजातियां हैं?

समुद्र में जीवजगत अरबों वर्षों से रहता आया है, और ज़मीन पर केवल चवालीस करोड़ वर्षों से, फिर भी आश्चर्य की बात है कि जलचर प्रजातियों की संख्या केवल पंद्रह लाख है जबकि थलचर प्रजातियों की संख्या एक करोड़ पच्चीस लाख है। वनस्पति सारे ऊर्जाचक्र की आधार हैं, फिर भी उनकी प्रजातियों की संख्या केवल तीन लाख है। इसी प्रकार से, जीवधारियों के अवशेषों का विघटन करके उनके खनिजों को ऊर्जा-चक्र व पदार्थ-चक्र में लौटाने वाले जीवधारियों की अट्ठाइस लाख प्रजातियां हैं। दूसरी ओर, भक्षक जंतुओं की एक करोड़ नौ लाख प्रजातियां हैं।

किंतु प्रजातियों की संख्या ही विविधता का पैमाना नहीं हो सकती। विविधता उन अनेक शाखाओं के समान है जो जैव विकास के दौरान जीवन वृक्ष से निकलती रही हैं। जीवन वृक्ष के तने से तीन महाशाखाएं निकलीं - बैक्टीरिया, आर्किया और हमारे समान उन्नत यूकैरियोटिक (केंद्रकयुक्त) जीव। यूकैरियोटिक महाशाखा से तीन शाखाएं निकलीं - वनस्पति, जंतु और फफूंद। इन तीन शाखाओं से कुछ बड़ी उप-शाखाएं निकलीं जिन्हें फायलम या संघ कहते हैं। हर संघ की अन्य संघों से अलग विशिष्ट शरीर रचना होती है।

उदाहरण के लिए, आर्थ्रोपोडा संघ में मकड़ियां, कीट, केंकड़े, झींगे आदि शामिल हैं। इनकी शरीर रचना में काफी समानता होती है। हम कशेरुकी (रीढ़धारी) हैं। हमारे संघ में मछलियां, पक्षी और स्तनधारी जंतु शामिल हैं। इन सबके शरीर में रीढ़, पंखों की एक तथा टांगों की एक जोड़ी या फिर टांगों की दो जोड़ियों जैसी समानताएं पाई जाती हैं।

एक ही वर्ग में शामिल सब पक्षियों की शरीर रचना में तो बहुत अधिक समानता है। इस वर्गीकरण की सबसे निचली पायदान है प्रजाति। उदाहरण के लिए कौआ और जंगली कौआ इन दो प्रजातियों के रंग-रूप में थोड़ा ही अंतर है। कौआ अधिक घनी आबादी पसंद करता है तो जंगली कौआ अधिक घने पेड़ों वाला परिवेश।

यद्यपि थलचरों की प्रजातियों की संख्या अधिक है, किंतु यदि संघों की संख्या देखी जाए तो जलचरों का पलड़ा भारी दिखाई देता है। समुद्री जीवन के लम्बे इतिहास में विभिन्न शरीर रचनाओं वाले कई संघ उपजे। आज संसार में

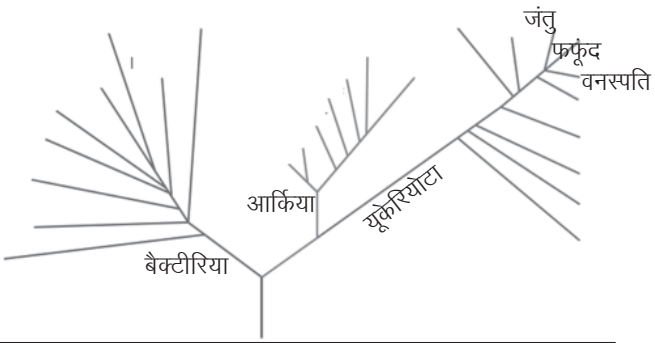

जंतुओं के बत्तीस संघ हैं जिनमें से इक्कीस केवल पानी में ही पाए जाते हैं और इनमें से भी अधिकतर समुद्र में। शेष ग्यारह संघों के कुछ सदस्य पानी में रहते हैं तो कुछ ज़मीन पर। कृमियों का एक छोटा संघ ही केवल ज़मीन पर पाया जाता है। थलचरों में सबसे अधिक विविधता वाले कीट भी शुद्ध रूप से थलचर नहीं हैं। इनकी दस हज़ार प्रजातियां पानी में अठखेलियां करती हैं। कशेरुकी संघ की आधी प्रजातियां मछलियों की हैं जो पूर्णतः जलीय हैं। स्तनधारियों की भी व्हेल जैसी कई प्रजातियां पानी में ही रहती हैं।

सारांश यह है कि प्रजातियों के हिसाब से समुद्र काफी विपन्न है और भूमि पर थोड़े-थोड़े अंतर वाली प्रजातियों की तो बहुतायत है किंतु संघों के स्तर पर कमी है। समुद्र का परिवेश संघों की विविधता के लिए अनुकूल होने के कारण वहां संघों की विविधता फैली हुई है।

जीवधारियों के शरीर का अस्सी प्रतिशत भार पानी का होता है, और जलीय माध्यम में ही शरीर की सारी जैव-रासायनिक क्रियाएं चलती हैं। शरीर में लवणों का अनुपात समुद्री पानी के लवणों के अनुपात के समान ही होता है। अतः समुद्र में रहने वाले जीवधारियों को पानी या लवण सहेजने में कोई कष्ट नहीं होता। उनका घनत्व समुद्र के पानी के लगभग समान होने के कारण वे बिना प्रयास तैर सकते हैं, उन्हें गुरुत्वाकर्षण की चिंता नहीं होती। इसके अलावा, समुद्र में मृत शरीरों से बने हुए भोजन के कण पर्याप्त मात्रा में होते हैं। ये सब कारक समुद्र को एक ऐसा परिवेश बनाते हैं जो जीवजगत के लिए पोषक है। ऐसे परिवेश में विभिन्न प्रकार की शरीर रचनाओं के प्रयोग आसानी से होते रहे। जो संघ समुद्र के तल पर जमे रहे वे तो सफलतापूर्वक बने रहे। किंतु मूंगे के टापुओं जैसे अपवादों को छोड़ दिया जाए तो समुद्र के सीधे-सपाट विश्व में शरीर रचना में बहुत अधिक विविधता नहीं पाई जाती। इसीलिए कौए और जंगली कौए के बीच जिस प्रकार छोटी-छोटी विशेषताओं के अंतर होते हैं वैसे अंतर जलचरों में ढूंढना कठिन होता है। अतः समुद्र में प्रजातियों के स्तर पर थलचरों की अपेक्षा बहुत कम विविधता दिखाई देती है।

जब जीवधारी पानी से निकल कर ज़मीन पर आए तब उन्हें निहायत प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उनके लिए दो विशेष चुनौतियां थीं। पहली थी पानी प्राप्त करना और उसे सहेजना, और दूसरी थी गुरुत्वाकर्षण पर नियंत्रण करते हुए शरीर को साधे रखना। इन कठिनाइयों से पार पाने में केवल चार संघों की शरीर रचनाएं सफल रहीं - हमारे जैसे मज़बूत शरीरों वाले पशु-पक्षी, पुष्पी वनस्पति, कीट और उनके जैसे अन्य जंतु, और फफूंद। किंतु इन चारों की सफलता के कारण भूतल पर असीम रचना-विविधता और रसायन-विविधता निर्मित हो गई।

समुद्र के दो प्रमुख उत्पादक यानी सायनोबैक्टीरिया और एककोशिकीय शैवाल पानी की उस ऊपरी सतह में उतराते रहते हैं जहां तक प्रकाश पहुंचता है। अतः उनमें आपस में प्रतिस्पर्धा का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। घने जंगलों में आज जड़ें फैलाने और प्रकाश के लिए वनस्पतियों में जो प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है वह तो हाल ही में - यानी पिछले पचास करोड़ वर्षों में उथले, पथरीले समुद्री भागों में - शुरू हुई है। यहां विशालकाय, अस्सी मीटर तक लम्बे शैवालों के जंगल फलने-फूलने लगे। फिर शैवाल क्रमशः मीठे पानी में फैल गए और चवालीस करोड़ वर्ष पहले अधिक उन्नत वनस्पति ज़मीन पर अवतरित हुई। इन वनस्पतियों को पानी सहेजने और गुरुत्वाकर्षण का सामना करने के लिए कोशिकाओं के कड़े आवरण की आवश्यकता थी। शर्करा के सैकड़ों अणुओं को जोड़ कर बने सेल्यूलोज़ से इस आवश्यकता की पूर्ति की गई। किंतु एक बार शुरू हुई प्रतिस्पर्धा समाप्त होने की बजाय बढ़ती ही गई; जो वनस्पति अन्य से अधिक ऊंचाई तक पहुंचतीं वे जीतती थीं। इस प्रतियोगिता के कारण वनस्पतियों के शरीरों की भिन्न-भिन्न रचनाओं का विकास हुआ और इस कारण भूमि पर अनगिनत विविध रचनाएं बन गईं।

ऊंचाई बढ़ाने और शरीर को सीधा रखने के लिए वनस्पति तीन प्रकार के अणु बनाते हैं - सेल्यूलोज़, हेमीसेल्यूलोज़ और अल्कोहल के सैकड़ों अणुओं को गूंथ कर बनाया गया लिग्निन। वनस्पतियों के ये तीन प्रमुख घटक भूतल पर सबसे अधिक मात्रा में पाए जाने वाले अणु हैं। किंतु इनको पचाना टेढ़ी खीर है; इन्हें पचाने में जंतुओं

की भूमिका न के बराबर है। इस काम में माहिर हैं फफूंद। हमलावर कीटों और फफूंदों से बचाव के लिए वनस्पतियों ने टैनिन (जो चाय में पाया जाता है) और तीखे अल्केलॉइड्स (जो काली मिर्च को तीखा बनाते हैं) जैसे रसायन बनाए। इसके कारण वनस्पतियों की रचना-विविधता की पूरक रसायन-विविधता विकसित हुई। इस रचना और रसायन-विविधता के दबाव में फफूंदों की पंद्रह लाख प्रजातियों और कीटों की अस्सी लाख प्रजातियों की आश्चर्यजनक विविधता का विकास हुआ। इसकी तुलना में पुष्पी वनस्पतियों की केवल दो लाख सत्तर हज़ार प्रजातियां हैं; सांप, पक्षी, चूहे, बंदर और मनुष्य जैसे थलचर कशेरुकियों की केवल पच्चीस हज़ार। इसका मतलब यह हुआ कि बड़े जीवधारियों की तुलना में कीटों और फफूंदों जैसे छोटे जीवधारी अधिक सफल हैं। इसीलिए संत तुकाराम ने कहा था, 'भगवान, मुझे छुटपन दे'। पृथ्वी पर पीपल, देवदार, शार्क, मगरमच्छ, मोर, हाथी, व्हेल आदि जीवधारी चाहे आसानी से देखे जा सकते हों, किंतु विविधता का असली खजाना तो नन्हे कीट और फफूंद हैं। ***(स्रोत फीचर्स)***

3. फफूंद लाए पृथ्वी पर बहार

अजीब लगता है न? फफूंद और बहार? कितनी परस्पर विरोधी बात है। किंतु सच्चाई यही है कि जिन फफूंदों को हम तुच्छ समझते हैं उन्होंने ही ज़मीन के नीचे वनस्पतियों की जड़ों के साथ सहयोग का व्यापक जाल बुनकर भूतल पर जीवधारियों के नए युग की बुनियाद रखी है।

हर व्यक्ति के जीवन में, हर समाज के इतिहास में उन्नति और अवनति, सहयोग और संघर्ष, ऐसे उतार-चढ़ाव लगातार होते रहते हैं। इस प्रकार के सकारात्मक और नकारात्मक दौर जैव विकास की यात्रा में भी देखे जाते हैं। जीवधारियों का पानी से निकल कर भूतल पर आना एक बढ़ते हुए सहयोग का उन्नत काल था। पौने चार अरब वर्ष पहले सागर की गहराइयों में, जिस गंधकयुक्त और ऑक्सीजन-रहित पानी में जीवन की शुरुआत हुई थी वह हमारे लिए पूरी तरह विषैला है। वहीं पर अरबों वर्ष तक जीवन फलता-फूलता रहा - सरल शरीर रचना वाले सूक्ष्म बैक्टीरिया के रूप में।

इनमें से सायनोबैक्टीरिया ने प्रकाश की ऊर्जा का उपयोग करते हुए जैविक उत्पादन शुरू किया। इस प्रक्रिया में पानी से ऑक्सीजन मुक्त होने लगी और उसकी मात्रा बढ़ती गई। ऑक्सीजन के तीन परमाणुओं से बने ओज़ोन के अणु सूर्य के प्रकाश में उपस्थित पराबैंगनी किरणों को सोखने लगे। इसके परिणास्वरूप धीरे-धीरे ऐसी परिस्थिति बन गई जिसमें उथले पानी में और ज़मीन पर जीवन इन घातक किरणों से सुरक्षित रह सका।

ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ने के साथ अधिक जोशीले जीवधारी सामने आए। ये सारी घटनाएं हुईं तो समुद्र के पानी में, जो जीवन के लिए बहुत अधिक अनुकूल होता है, किंतु जीवजगत तो लगातार अपने पांव पसारता रहता है। इसी का परिणाम यह हुआ कि जैव विकास के अगले चरण में, आज से लगभग पैंतालीस करोड़ वर्ष पहले जीवजगत पानी से बाहर झांकने लगा।

इस नए युग में जीवधारियों का सामना तमाम चुनौतियों से हुआ। समुद्र में उतराते सायनोबैक्टीरिया और एककोशिकीय शैवालों के लिए प्रकाश की ऊर्जा के उपयोग से जैविक उत्पादन हेतु पानी में से पोषक खनिज सोख लेना आसान था और उन्हें गुरुत्वाकर्षण का भय भी नहीं था। किंतु ज़मीन पर वनस्पतियों को पानी के सहारे के बिना खड़े रहना था और प्रकाश की ऊर्जा का उपयोग करने के साथ ही मिट्टी में से पोषक तत्वों को सोखना था। इसके अलावा, अन्य वनस्पतियों की छाया से बचते हुए खड़े होने के लिए मज़बूत शरीर चाहिए थे। पत्तियों के माध्यम से जैविक उत्पादन करने के लिए मिट्टी से सोखे हुए पानी और पोषक खनिजों को ज़मीन से काफी अधिक ऊंचाई तक पहुंचाना पड़ता था। फिर पत्तियों में बनी शर्करा को पूरे शरीर में पहुंचाना भी ज़रूरी था।

शर्करा के अणुओं को गूंथकर बनाए गए सेल्यूलोज़ और हेमीसेल्यूलोज़ घास और फूलों को तो मज़बूती देते हैं किंतु बड़े आकार के वृक्षों को मज़बूत लकड़ी की आवश्यकता होती है। इसके लिए जैव विकास के दौरान अल्कोहल के अणुओं से लिग्निन का निर्माण होने लगा।

मज़बूती प्रदान करने वाले सेल्यूलोज़, हेमीसेल्यूलोज़ और लिग्निन के अणुओं का पाचन बैक्टीरिया और जंतु नहीं कर सकते। ये तीनों पदार्थ प्रकृति के पदार्थ चक्र में बहुत धीमी गति से पिसते हैं। यही कारण है कि अणुओं की यह तिकड़ी जीवजगत में सबसे अधिक मात्रा में पाई जाती है। बहुतायत में पाए जाने वाले इन संसाधनों का उपयोग करने का सुनहरा अवसर जैव विकास के यात्रियों के लिए था। मगर इस अवसर का फायदा जैव विकास के नाटक के तीन कलाकारों यानी बैक्टीरिया, वनस्पति और जंतुओं से बिलकुल अलग एक कलाकार, यानी फफूंदों ने उठाया।

वनस्पतियों के समान फफूंद भी एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं किंतु इनके शरीर का रासायनिक संगठन वनस्पतियों की तुलना में जंतुओं के अधिक समान होता है। इन दोनों में जो सबसे महत्वपूर्ण समानता है वह है कायटिन नामक पदार्थ, जिसे सेल्यूलोज़ के समान ही शर्करा के अनेक अणुओं को गूंथकर बनाया जाता है। अंतर यह होता है कि इसमें नाइट्रोजनयुक्त अणुओं को भी जोड़ा जाता है। ज़मीन पर टिके रहने में सफल कीट, बिच्छू और मकड़ी वर्ग के जंतुओं के कवच और फफूंदों के कवच दोनों कायटिन से बने होते हैं। इस आवरण के कारण फफूंद अपने शरीर के पानी को अच्छी तरह सहेज सकते हैं और बिलकुल सूखे परिवेश में भी पनप सकते हैं। फफूंदों की दूसरी विशेषता है कि वे एक ऐसा काम कर सकते हैं जो अन्य सभी जीवधारियों के लिए असंभव है - लिग्निन का विघटन करके उसे जीवजगत के पदार्थ चक्र में फिर से उपलब्ध करा देना।

किंतु फफूंदों की सबसे महत्वपूर्ण करामात यह है कि वे वनस्पतियों से अनेक प्रकार का सहयोग करते हुए जीवजगत को ज़मीन पर अपने पैर मज़बूती से जमाने में मदद करते हैं। वनस्पतियों को जीवित रहने के लिए और बढ़ने के लिए पानी, नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और बहुत कम मात्रा में ज़िंक, मॉलिब्डेनम जैसे खनिज तत्वों की आवश्यकता होती है। वनस्पतियों की जड़ें इन सब सामग्री को सोखने के लिए अथक प्रयास करती रहती हैं, किंतु यह काम आसान नहीं है। प्रायः ये सामग्री बहुत कम मात्रा में मौजूद होती हैं और बिखरी हुई होती हैं। इसे सोखने के लिए मिट्टी में दूर-दूर तक पहुंचना होता है, और यह ज़रूरी होता है कि सोखने वाली सतह काफी बड़ी हो, और सोखने का काम कुशलता के साथ करना पड़ता है। इस काम को करने में वनस्पतियों की जड़ों की कई सीमाएं होती हैं। जड़ों की रचना ऐसी है कि उन्हें बहुत अधिक सूक्ष्म नहीं बनाया जा सकता, और इसीलिए आकार की तुलना में उनकी बाहरी सतह सीमित होती है।

इसके विपरीत, फफूंदों के कायटिन के कड़े आवरण वाले तंतु बहुत सूक्ष्म होते हैं। आयतन के अनुपात में उनकी सतह का क्षेत्रफल अधिक होता है। लकड़ी तथा इसी प्रकार की अन्य सामग्री, जैसे ज़मीन पर पड़ी पत्तियों आदि का विघटन करके उनमें से पोषक सामग्री को सोखने में फफूंद माहिर होते हैं। इसी कारण फफूंदों के महीन तंतु पानी और खनिजों को सोखने में वनस्पति जड़ों से कई गुना अधिक सक्षम होते हैं। बिलकुल सूखी ज़मीन से भी फफूंदों के महीन तंतु पानी सोख सकते हैं।

वनस्पति की जड़ें क्षारीय ज़मीन से फॉस्फोरस सोख ही नहीं सकतीं, किंतु फफूंद यह काम आसानी से कर लेते हैं। हवा की नाइट्रोजन का उपयोग न वनस्पति कर सकते हैं न फफूंद। किंतु फफूंद ऐसे बैक्टीरिया से तालमेल कर लेते हैं जो हवा में उपस्थित नाइट्रोजन को कार्बनिक नाइट्रोजन में बदलने की क्षमता रखते हैं। इसके अलावा वे ज़मीन के नीचे रहने वाले कीटों का शिकार करके वनस्पतियों को कार्बनिक नाइट्रोजन उपलब्ध करा देते हैं। इन सब कामों के लिए फफूंदों को शर्करा के अणुओं की ऊर्जा की आवश्यकता होती है। पत्तियों में बनी शर्करा को वनस्पति जड़ों में भेजते ही रहते हैं। तो वनस्पति जड़ों के माध्यम से फफूंदों को शर्करा मिल जाती है और फफूंद वनस्पतियों को पानी और खनिज उपलब्ध करवाते हैं। यह लेन-देन दोनों के लिए फायदेमंद होता है।

वनस्पति और फफूंद दोनों का जन्म समुद्र के पानी में सौ-सवा सौ करोड़ वर्ष पूर्व हुआ था। किंतु लगभग 45 करोड़ वर्ष पूर्व जीवजगत के ज़मीन पर कदम रखने के बाद ही वनस्पति आकार में बड़े हुए, फलने-फूलने लगे। वनस्पतियों के साथ फफूंदों की भी उन्नति हुई। कहा जाए, तो दोनों को

यह बात समझ में आ गई कि 'साथी हाथ बढ़ाना, एक अकेला थक जाएगा, मिल कर बोझ उठाना।' इसे अक्षरशः न लें। कहने का मतलब यह है कि वनस्पतियों और फफूंदों दोनों को जीने के लिए, बढ़ने के लिए, फलने-फूलने के लिए एक-दूसरे की पूरक भूमिकाएं लाभदायक होने के कारण बहुत धीरे-धीरे, करोड़ों वर्षों के सफर के दौरान, आपसी सहयोग की यह प्रणाली विकसित हुई।

वर्तमान में अस्सी प्रतिशत वनस्पतियों की जड़ें फफूंदों के साथ रह रही हैं। जैसे ही वनस्पति का सिरा ज़मीन से बाहर आता है, ज़मीन के नीचे उसकी जड़ों पर फफूंदों की वृद्धि शुरू हो जाती है और उनके महीन तंतुओं का विशाल जाल बिछ जाता है। वनस्पति से फफूंद शर्करा लेते हैं और बदले में उन्हें पानी और खनिज देते हैं। आगे चलकर फफूंद तंतुओं का यह जाल अलग-अलग वनस्पतियों की जड़ों को एक-दूसरे से जोड़ देता है। इस जाल के माध्यम से वनस्पति भी एक-दूसरे से पानी और खनिजों का आदान-प्रदान करते हुए अपने जीवन की डोर को और अधिक मज़बूत बनाते हैं। ऐसे ही सहयोग के कारण ज़मीन पर जीवजगत मज़बूती से खड़ा हो सका है।

इसका मतलब यह नहीं है कि वनस्पतियों और फफूंदों का सम्बंध केवल दोस्ती का है। परजीवी फफूंद कई बार वनस्पतियों में रोग और मृत्यु के कारण भी बन जाते हैं। किंतु सहयोग की तुलना में इस प्रकार का संघर्ष नगण्य है। हम जीवित हैं वनस्पतियों के कारण, और धरती पर वनस्पति पले-बढ़े फफूंदों की मदद से। हम फफूंदों को तुच्छ मानते हैं और कहते हैं, 'ये गंदे और गलीज़ हैं'। किंतु यह एकदम गलत है। गंदे लगने वाले इन फफूंदों ने ही सहयोग का रास्ता अपनाते हुए, उन्नति के पथ पर एक विशाल छलांग लगाई है और जीवजगत के इतिहास के नए, गौरवशाली अध्याय की बुनियाद रखी है। ***(स्रोत फीचर्स)***

4. छैल-छबीली विषकन्याएं और मायावियां

संघर्ष से सहयोग की ओर चल रही जैव विकास यात्रा में सहयात्री हैं वनस्पति और कीट - हर हरी चीज़ का सफाया करने वाली टिड्डियों से लेकर परागण की सेवा देने वाली मधुमक्खियों तक।

मशहूर लेखक खुशवंत सिंह कहते थे कि जब वे स्कूल में पढ़ते थे तब अफ्रीका से लाखों टिड्डियां पंजाब पर हमला करती थीं। ये आती थीं दिन के समय, किंतु उनके विशाल झुंडों के कारण सूर्य ढंक जाता था और पृथ्वी पर अंधेरा छा जाता था। कुछ ही पलों में वे हरे-भरे खेतों, वृक्षों, झाड़ियों की पत्तियों का सफाया कर देती थीं। ये टिड्डी दल कीटों की प्रचंड सफलता के द्योतक हैं।

थलचर जीवधारियों के विकास में दो अणुओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है - सेल्यूलोज़ और कायटिन। सेल्यूलोज़ वनस्पतियों की कोशिकाओं का कवच बनाता है तो कायटिन कीटों और फफूंदों के शरीरों का। पानी से निकल कर ज़मीन पर आने के बाद शरीर के भार का संतुलन बनाए रखने और शरीर का पानी सहेजने के लिए इस प्रकार के आवरण ज़रूरी होते हैं, और इसीलिए आज पृथ्वी पर वनस्पतियों, कीड़े-मकोड़ों और फफूंदों का बोलबाला है। पशु-पक्षी दिखते तो बहुत हैं, किंतु वास्तव में इन तीन समूहों (वनस्पति, कीट और फफूंद) की तुलना में पशु-पक्षियों की संख्या, भार और विविधता कुछ नहीं हैं।

फफूंद तो वनस्पतियों से मेलजोल बढ़ाते हुए फले-फूले। दूसरी ओर, कीट वनस्पतियों पर हमला करते हुए, टिड्डियों के समान उनका सफाया करते हुए, धरती पर आए। पैंतालीस करोड़ वर्ष पहले वनस्पति पानी के किनारे की गीली ज़मीन पर पहुंची। पर्णांग (अपुष्पी वनस्पति या फर्न) के समान इन वनस्पतियों का प्रजनन कोमल बीजाणुओं (स्पोर्स) के माध्यम से होता था।

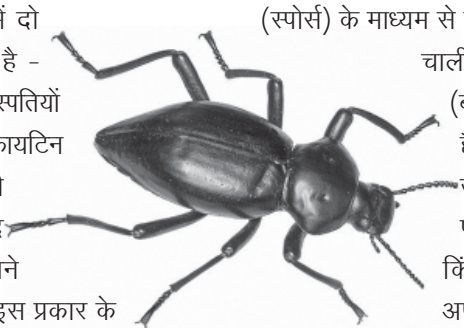

चालीस करोड़ वर्ष पहले से गुबरैलों (बीटल्स) के जीवाश्म मिलने लगते हैं। वनस्पतियों के सेल्यूलोज़ और उनकी लकड़ी के लिग्निन को पचाना बहुत मुश्किल होता है, किंतु बीजाणुओं को पचाना अपेक्षाकृत आसान होता है। अतः

वनस्पतियों के मुलायम बीजाणु ही आदिम-कीटों का आहार होता था।

जैव विकास के दौरान वनस्पतियों ने सूखी ज़मीन पर फैलना शुरू किया। वहां तो नर और मादा बीजाणुओं को साथ-साथ लाने के लिए पानी मिलने का सवाल ही नहीं था। तब दुनिया में आई जिम्नोस्पर्म समूह की वनस्पति (नग्नबीजी वनस्पति)। इनके नर बीजाणुओं यानी पराग कणों की बारात हवा पर निकलती है। गुबरैलों ने इन जिम्नोस्पर्म वनस्पतियों के पराग कण चट करने के साथ-साथ इनको फैलाना भी शुरू कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि गुबरैलों और वनस्पतियों का खालिस दुश्मनी का रिश्ता बदला और वे कुछ हद तक वनस्पतियों के मित्र बन गए। ज़मीन पर आने के बाद फर्न और जिम्नोस्पर्म जैसी वनस्पतियों ने पहले उनचालीस करोड़ वर्षों तक राज किया। साढ़े छह करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी पर बड़ी भारी उथल-पुथल हुई, ज्वालामुखियों के भयानक विस्फोटों के कारण उड़ी धूल और धुंएं से सूर्य की किरणें पृथ्वी तक नहीं पहुंच पाईं। इसके परिणामस्वरूप पड़ी भयंकर सर्दी के कारण डायनासौर और कई वनस्पतियों और जंतुओं की प्रजातियां नष्ट हो गईं। इनका स्थान नए प्रकार की शरीर रचना वाले वनस्पतियों, कीटों और पशु-पक्षियों ने ले लिया।

जब वनस्पति परागण के लिए हवा और पानी पर निर्भर होती थीं तब बहुत बड़ी संख्या में पराग कण नष्ट हो जाते थे। हालांकि कुछ हद तक गुबरैलों जैसे कीटों के माध्यम से उनका व्यवस्थित रूप से फैलाव होने लगा था, मगर नए ज़माने में अगले कदम उठाए गए। नए ज़माने की फूलधारी (पुष्पी) वनस्पतियों ने परागण की सेवा देने वाले कीटों को आकर्षक पंखुड़ियों की मदद से इशारे करते हुए मकरंद का लालच देना शुरू कर दिया। कीटों ने भी इसका सकारात्मक जवाब दिया और अवतरित हुईं तितलियां और मधुमक्खियां।

जहां मधुमक्खियों और वनस्पतियों का सम्बंध शुद्ध रूप से मित्रता का है, वहीं तितलियां वनस्पतियों की आंशिक रूप से दुश्मन और आंशिक रूप से दोस्त हैं। वयस्क तितलियां परागण की सेवा देती हैं, किंतु उनकी इल्लियां वनस्पतियों की पत्तियों को चट कर जाती हैं। अर्थात बचपन में कट्टर दुश्मन तो वयस्क अवस्था में जिगरी दोस्त। इल्लियों से बचाव के लिए वनस्पति विष का निर्माण करते हैं, वहीं वयस्क तितलियों को अपने रंग और मकरंद से ललचाते हैं। आम तौर पर कीटों को अलग-अलग रंग दिखाई नहीं पड़ते हैं, किंतु मकरंद खोजने के लिए कीटों में रंगदृष्टि का विकास हुआ। इस कारण गुबरैले, मधुमक्खियां, तितलियों जैसे परागण करने में माहिर कीटों में रंगदृष्टि है। इतना ही नहीं, वे उन पराबैंगनी रंगों को भी देख सकते हैं जिन्हें मनुष्य नहीं देख सकते। हमें यह पता ही नहीं होता कि जूही, चमेली जैसे सफेद फूलों पर भी रंगीन धारियां होती हैं जिन्हें हम नहीं देख सकते।

जैव विकास का अध्ययन करने वालों के मन में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपजता है कि क्यों फूलों के साथ केवल तितलियों ने ही रंगीन परिधान धारण किया, गुबरैलों और मधुमक्खियों ने नहीं किया? इसका मूल कारण उनके अलग-अलग जीवन चक्रों में छुपा है। वयस्क मधुमक्खियां अपनी इल्लियों का पोषण करती हैं, इसलिए यदि उनकी आयु पर्याप्त न हो तो प्रकृति के छन्ने से उन्हें कंकड़ों के समान बीन कर बाहर फेंक दिया जाएगा। इसके विपरीत, तितलियों का खाना-पीना सब कुछ बचपन (इल्ली अवस्था) में ही पूरा हो जाता है। वयस्क तितलियां केवल मकरंद का सेवन

करती हैं, वह भी बहुत थोड़ी मात्रा में। कोया (ककून) में से बाहर आते ही जल्दी से जल्दी प्रजनन कर सकने वाली तितलियां ही प्रकृति के छन्ने में चुनी जाती हैं। वे फटाफट मर भी जाएं तो कोई बात नहीं, उन्हें प्रजनन के लिए साथी भर मिल जाना चाहिए। इसी कारण उनकी उड़ने की शैली भी अन्य कीटों से अलग प्रकार की बन गई है।

मच्छर एक सेकंड में पूरे पांच सौ बार पंख हिलाते हैं और मधुमक्खियां दो सौ बार, मगर तितलियां केवल पांच या छह बार पंख हिलाती हैं। उड़ान की गति धीमी हो तभी तो पंखों का रंग-रूप दिखाई पड़ता है। इसलिए केवल तितलियों में पंख नर और मादाओं को परस्पर आकर्षित करने का साधन बन पाए हैं।

किंतु तितलियों को रंगीन पंखों और धीमी उड़ान की कीमत भी चुकानी पड़ती है। ये शिकारियों को आसानी से दिखती हैं और इन्हें पकड़ना भी आसान होता है। यह सच है कि प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया में वयस्क तितली की आयु की लम्बाई का महत्व कम है, किंतु बिलकुल नगण्य भी नहीं है। यदि आयु को बढ़ाया जा सके तो उनके गुणधर्मों को अगली पीढ़ी में पहुंचाने का बेहतर अवसर मिल सकता है। इसलिए अधिकांश तितलियां उड़ते समय जल्दी-जल्दी अपनी दिशा बदलती रहती हैं और उनके पंखों के रंग केवल ऊपर की ओर होते हैं - उस सतह पर जो बैठने पर बंद हो जाती है। कुछ गिनी-चुनी तितलियों के पंख ही ऊपर और नीचे दोनों सतहों पर रंगों से सजे रहते हैं मगर फिर भी वे आराम से बेखौफ हो कर उड़ती रहती हैं। ये विशेष प्रजातियां ही हमें सबसे अधिक आकर्षक लगती हैं।

इन विशेष प्रजातियों की सुंदरता का रहस्य क्या है? अजी, ये हैं विषकन्याएं। इल्लियों से बचाव के लिए अकाव (मदार) जैसी कुछ वनस्पतियां विषैले पदार्थ बनाती हैं। अधिकांश प्रजातियों की तितलियां ऐसी वनस्पतियों से दूर ही रहती हैं, उन पर अंडे नहीं देतीं। किंतु ऐसी भी कुछ बहादुर इल्लियां होती हैं जो इस विष को न केवल सहन कर लेती हैं, बल्कि उसे अपने शरीर में संग्रहित करके भी रख लेती हैं। जब इल्ली वयस्क तितली बनती है तब यह संग्रहित विष वयस्क के शरीर में पहुंच जाता है, और कीटभक्षी पक्षी उनसे दूर ही रहते हैं। इस प्रकार से प्रकृति के छन्ने में इन विषैली तितलियों में लैंगिक आकर्षण बढ़ाने का पलड़ा और भी भारी हो जाता है। इस प्रक्रिया से गजब की सुंदरता उपजती है।

ये सुंदर तितलियां विषैली हैं इसका ज्ञान पक्षियों में जन्मजात नहीं होता। मगर इन्हें खा लेने पर जब उल्टी हो जाती है तब उनकी समझ में आ जाता है। इसलिए एक समान दिखने में विषैली तितलियों को फायदा होता है क्योंकि पक्षी ऐसी सभी तितलियों से किनारा करते हैं और कम तितलियां मारी जाती हैं। यही कारण है कि तितलियों के 'टाइगर' और 'क्रो' जैसे समूहों का विकास हुआ है जिनकी तितलियां एक समान दिखाई पड़ती हैं। सम्राट जहांगीर बड़ा प्रकृतिप्रेमी था। उसके दरबार के चित्रकारों ने कई आकर्षक जंतुओं और वनस्पतियों के चित्र बनाए हैं। स्वाभाविक है कि इनमें एक तितली को भी स्थान मिला है - विषैली सादी टाइगर तितली।

प्रकृति अवसरवादी है। विषैली तितलियां पक्षियों के शिकंजे से बच निकलती हैं। इसी कारण उन्हीं के समान दिखने वाली किंतु गैर-विषैली नकलची तितलियों का विकास होने लगा। इन नकलचियों को दोहरा फायदा होता है - विष को संग्रहित करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता, और दुश्मन से बचाव भी हो जाता है। ये सुंदरियां विषैली नहीं हैं, मायावी हैं। तो ऐसा है तितलियों की सुंदरता का दोहरा रहस्य - विष और माया। ये छैल-छबीली विषकन्याएं भी हैं और मायावी भी। ***(स्रोत फीचर्स)***

5. जैव विकास की नई दिशाः उन्नति या अवनति?

आज तक तो अपनी विविधता के बल पर जीवजगत आगे बढ़ता रहा है। किंतु मनुष्य के हस्तक्षेप से जो अनहोनी घट रही है उसका परिणाम हमारी उन्नति के रूप में सामने आएगा या अवनति के रूप में?

जीवजगत से सजी पृथ्वी के कुछ भाग विशेष रूप से जैव विविधता से संपन्न हैं। ऐसे भूभागों में हमारे देश के पश्चिमी घाट शामिल हैं। पश्चिमी घाट के नीलगिरी वाले क्षेत्र में अभी भी प्राकृतिक हरियाली बची हुई है, नदी-नालों

में निर्मल, स्वच्छ जल बह रहा है। ऐसे प्रयास किए जा रहे हैं कि इस भाग को बायोस्फीयर रिज़र्व के रूप में सुरक्षित रखा जाए। ये प्रयास किस हद तक सफल हो रहे हैं इसकी पड़ताल करने की ज़िम्मेदारी कुछ वर्ष पहले मुझे दी गई थी।

लीनियस

नीलगिरी के जीवजगत की एक महत्वपूर्ण धरोहर है उस क्षेत्र के कलकल बहते नालों में पाई जाने वाली विशेष प्रकार की मछली प्रजातियां। मेरे अध्ययन का एक महत्वपूर्ण भाग यह पता लगाना था कि वर्तमान में इन प्रजातियों की क्या स्थिति है। मैंने भारत के अग्रणी मत्स्य विज्ञानी श्री जयरामन से पूछा कि यह अध्ययन कैसे किया जाए? उन्होंने कहा "पिछले पचास वर्षों में इस विषय पर कोई वैज्ञानिक शोध कार्य नहीं हुआ है, किंतु मैं उस इलाके में घूमा बहुत हूं। वहां कालिअप्पन नाम का एक जानकार मछुआरा है जो पिछले चार दशकों से मोयार नदी पर मछलियों का शिकार करता आ रहा है। उसे पकड़ो और बातचीत करो।" मैंने कहा, बढ़िया!

मैंने कालिअप्पन को खोजा, उसके साथ दिन भर मछलियां पकड़ीं, फिर चांदनी रात में ताज़ी मछलियों का स्वाद लेते हुए नदी किनारे रेत पर रात बिताई। उसने मुझे मछलियों के तमिल नाम बताए, नदी के विभिन्न प्राकृतवासों में रहने वाली मछली प्रजातियों का चालीस वर्षों का इतिहास बताया और उनमें होने वाले परिवर्तनों के कारण विस्तार से समझाए। मैंने कालिअप्पन की जानकारी नोट करके जयरामन को दिखाई। उन्होंने कहा, "मेरा अनुमान है कि यह सब सही है। आप केवल इतना कर सकते हैं कि मछली प्रजातियों के स्थानीय नामों के साथ उनके वैज्ञानिक नाम जोड़ दें। कालिअप्पन जिन-जिन मछली प्रजातियों को पहचानता है उन्हीं को आधुनिक विज्ञान भी पहचानता है।"

मनुष्य ने अपने संचित ज्ञान के बल पर समूची प्रकृति पर अपना वर्चस्व बना लिया है। बिलकुल आदिम समय से, कालिअप्पन के समान ही, मनुष्य लगातार जीवधारियों के विभिन्न कुलों को, प्रजातियों को पहचानने, उनका नामकरण करने, उनके रीति-रिवाज़ों को समझने का प्रयास करता रहा है। मनुष्य यह भी विचार करता रहा है कि अपना वर्गीकरण कितना सटीक है।

आखिर सभी जीवधारी एक ही आदिमाया की संतानें हैं। चाहे ऊपरी तौर पर बहुत अधिक अंतर दिखाई देता हो, फिर भी डीएनए, अमीनो अम्ल, शर्करा वगैरह अणुओं के स्तर पर सभी जीवधारियों की रचना में एकरूपता है। अपनी सुविधा के लिए हम इन्हें विभिन्न वंशों, कुलों, जीनस, प्रजातियों आदि में बांटते हैं। सवाल यह है कि हमारे द्वारा किया गया यह विभाजन-वर्गीकरण किस हद तक वास्तविक स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है? या कहीं इनके बीच की विभाजन रेखाएं कृत्रिम ही हैं?

जीव विज्ञान में लंबे समय से यह दार्शनिक बहस छिड़ी हुई है। अठारवीं सदी में आधुनिक जीव वैज्ञानिक वर्गीकरण की नींव रखने वाले ईश्वरनिष्ठ लीनियस के अनुसार ये सारे भेद पत्थर की लकीरें हैं, क्योंकि वे ईश्वर के मन की कल्पनाओं के आविष्कार हैं। लीनियस के अनुसार यह सही है कि प्रकृति में विभिन्न प्रजातियों के बीच की सीमाएं कभी-कभी धुंधली दिखाई देती हैं और एक ही प्रजाति के सदस्यों में भी विविधता दिखाई देती है, किंतु उनके मुताबिक ये सब भ्रामक विकृतियां हैं। डार्विन के समकालीन व जैव विकास मत के कट्टर विरोधी रहे मशहूर प्राणि शास्त्री लुई अगासिज़ भी लीनियस के मत के समर्थक थे। वे तो लीनियस से भी आगे बढ़कर मानते थे कि गोरे, काले और पीले मनुष्य तीन भिन्न प्रजातियां हैं।

इसके उलट लीनियस के एक सदी बाद जैव विकास मत की नींव रखने वाले डार्विन ने सर्वथा भिन्न मत व्यक्त किया। उनके अनुसार विविधता ही प्रजातियों का स्वभाव है और यही जैव विकास का आधार है। डार्विन के अनुसार वंश, वर्ग, कुल, जीनस में किए गए भेद केवल सुविधा के लिए हैं। मात्र प्रजातियों के बीच की सीमाओं का ही थोड़ा-बहुत वास्तविक अर्थ है। यह अर्थ क्या है और प्रजाति से

आशय क्या है?

जीवजगत की विकास यात्रा में विविधता के निर्माण का अलग ही महत्व है। इस विविधता के निर्माण की गति बढ़ाने में नर-मादा के सहयोग से लैंगिक प्रजनन का योगदान महत्वपूर्ण है। किंतु नर और मादा के बीच ऐसा सहयोग भी एक सीमा तक ही संभव हो पाता है। यदि नर और मादा एक-दूसरे से एक सीमा से अधिक भिन्न हों तो आनुवंशिक सामग्री यानी जीन्स का आदान-प्रदान संभव नहीं होता; तब वे प्रजनन में सहयोग नहीं कर सकते। आधुनिक विज्ञान की परिभाषा के अनुसार जिन जीवों के प्रजनन में इस प्रकार का सहयोग संभव है वही समूह एक प्रजाति है, और इस सीमा से बाहर के जीव अलग प्रजातियां हैं।

किंतु प्रजातियों के बीच की सीमाएं भी स्पष्ट नहीं हैं। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण है वर्तुल प्रजातियां (ring species)। मेंढक का एक निकट रिश्तेदार है सेलेमेंडर। कैलिफोर्निया में सेलेमेंडर की एन्साटीना जीनस की सात प्रजातियां एक वृत्त की परिधि वाले क्षेत्र में फैली हैं। इनमें पहली और दूसरी में, दूसरी और तीसरी में, तीसरी और चौथी में, चौथी और पांचवीं में, पांचवीं और छठी में तथा छठी और सातवीं में कुछ हद तक प्रजातियों के बीच (अंतरप्रजातीय) संकरण पाया जाता है। किंतु जहां वृत्त पूरा होकर पहली और सातवीं प्रजातियां मिलती हैं वहां उन प्रजातियों के बीच संकरण बिलकुल नहीं होता।

वनस्पतियों में तो अलग-अलग प्रजातियों के बीच काफी अंतरप्रजातीय संकरण होते हैं। कई बार संकरण के बाद जीन्स का समूह दुगना होकर नई प्रजातियां बन जाती हैं। लगभग दस प्रतिशत वनस्पति प्रजातियां इस तरह के अंतरप्रजातीय संकरण से बनी हैं।

आज यह एक बड़ा मुद्दा बन गया है कि प्रजातियों की सीमाएं क्या हैं? मनुष्य ने अपने लगातार बढ़ते ज्ञान भंडार के बल पर केवल करीबी ही नहीं, बल्कि बिलकुल भिन्न-भिन्न दूरस्थ प्रजातियों के जीन्स को आपस में मिलाने की विधि का विकास कर लिया है। इस विधि के फलस्वरूप बने हैं बिलकुल नई किस्म के जीवधारी। जैसे जिनेटिक रूप से परिवर्तित (जीएम) बीटी कपास जो बैक्टीरिया के विष बनाने वाले जीन्स से युक्त है। जैव विकास का अध्ययन करने वालों के लिए इन किस्मों का भविष्य समझना एक बड़ी चुनौती है।

इस संदर्भ में कई प्रश्न पैदा होते हैं। क्या जीएम फसलों में बाहर से प्रविष्ट कराए गए जीन्स पराग कणों के माध्यम से अन्य प्राकृतिक प्रजातियों में घुसपैठ कर लेंगे? इस प्रकार निर्मित की गई संकर किस्में यदि खच्चरों के समान बांझ नहीं हुई तो क्या उनकी संतानों से नई-नई प्रजातियां बनती रहेंगी? क्या इनमें से कुछ प्रजातियां आक्रामक बन कर खरपतवार बन जाएंगी? क्या ऐसी जीएम खरपतवार अनियंत्रित हो कर फैलने लगेंगी?

अब इन प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर उपलब्ध हैं। अमेरिका में सरसों की दो अलग-अलग प्रतिरोधी क्षमताओं वाली किस्मों की खेती की जा रही है। वर्तमान में ये दोनों किस्में अनियंत्रित हो कर फैल रही हैं, और इन दोनों किस्मों में आपस में संकरण हो कर अधिक तीव्र प्रतिरोध शक्ति वाली किस्म बन गई है। मेक्सिको की जंगली मक्का में जीएम मक्का में से निकले हुए जीन्स घुस गए हैं। धान, ज्वार, राई, गाजर, मूली, चुकंदर, कद्दू, अंगूर, स्ट्रॉबेरी, अखरोट जैसी अनेक व्यावसायिक फसलों में उनके वन्य रिश्तेदारों से अंतरप्रजातीय संकरण होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। सूरजमुखी के वन्य फूलों से हुए अंतरप्रजातीय संकरण से उपजे *हेलिएन्थस एनॉमैलस* जैसी नई प्रजातियां आक्रामक खरपतवार बन कर फैल गई हैं। इन सब घटनाओं के परिणाम स्वरूप कभी-न-कभी प्राकृतिक वनस्पतियों को परास्त कर देने वाली राक्षसी खरपतवार पैदा होना अपरिहार्य है। प्रकृति हमें सावधान कर रही हैः मूर्खों, तात्कालिक फायदे के लालच में पड़कर जीएम फसलों को फैलाते रहोगे तो आने वाले कल में जीवजगत तार-तार हो जाएगा! ***(स्रोत फीचर्स)***